प्राइवेट बनाम सरकारी स्कूल

हृदयकांत दीवान

हमारा संविधान सभी को बराबर के मौके देने व न्यायपूर्ण लोकतंत्र देने का वायदा करता है। उसकी प्रस्तावना ऐसा करने का दारोमदार हम सभी पर डालती है। जाहिर है कि इन मौकों की बराबरी हासिल करने के लिए और अपने दारोमदार निभाने के लिए, शिक्षा व समझ एक महत्त्वपूर्ण ही नहीं अनिवार्य कड़ी है। पिछले कई दशकों से सभी को शिक्षा मिले और वह भी गुणवत्ता पूर्ण शिक्षा मिले इन पर कई वायदे हुए हैं और घोषणाएँ भी। खर्चे को बढ़ाने के बारे में व मिशन मोड़ में करने के बारे में बहुत कुछ कहा गया है, स्कीम और प्रोजेक्ट लागू किए गए हैं, छोटे-बड़े अफसरों की पूरी फौज गांव के स्तर तक तैयार की गई है, किंतु हम अभी लक्ष्य से बहुत दूर हैं, यह सरकारी व गैर-सरकारी सभी अध्ययन मानते भी हैं व बार-बार दोहराते भी हैं। इस सबके कई कारण हैं और हरेक के लिए अनेक प्रकार के लंबे-लंबे विश्लेषण भी। यहाँ हम केवल एक पहलू की बात करेंगे और वह है प्राइवेट स्कूलों

का उद्भव उनके आकर्षण का फैलाव, सरकारी स्कूलों से उनकी तुलना व उनके प्रति नीति। जाहिर है यह सबके सब पहलू भी विस्तार मांगते हैं। अतः हम इनमें से कुछ को ही थोड़ा बारीकी से देखेंगे और शेष को बस छुएंगे। हम स्वतंत्र प्रजातांत्रिक गणराज्य में निजी शिक्षा के औचित्य, रोजगार के अवसर, आर्थिक खुलापन, वैश्वीकरण आदि के संदर्भ व उनका निजी स्कूलों पर असर जैसे मसलों को नहीं उठाएंगे।

सरकारी बनाम प्राईवेट का द्वंद्व बहुत पुराना नहीं है। स्वतंत्रता के पश्चात् शिक्षा की आवश्यकता के चलते राज्य सरकारों ने अपने राज्य में स्कूलों की उपलब्धता कम होने के कारण उस समय 'अच्छे' माने जाने वाले स्कूलों व संस्थाओं को मदद दी और स्कूल समेत शैक्षिक संस्थानों को स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन भी दिए। बहुत से समूहों ने स्कूल खोले व शिक्षा को ज्यादा से ज्यादा लोगों तक ले जाने का प्रयास किया। प्राईवेट स्कूलों की संख्या का बढ़ना बच्चों की संख्या के बढ़ने के मद्देनज़र होता ही रहा है व इसमें कुछ आश्चर्यजनक बात नहीं है। किंतु यह स्कूल सभी बच्चों तक नहीं पहुँच पाते थे और इस कमी का ध्यान रखते हुए शिक्षा के व्यापक स्तर पर सार्वजनिकरण के लिए लगभग 30-40 वर्ष पहले से सरकार ने बहुत से नए स्कूल खोले और सभी बच्चों के लिए उनके घर के करीब तक स्कूल अथवा स्कूल-सा एक नया ढाँचा भी उपलब्ध करवा दिया, और एक मुहिम के तहत सभी को शिक्षित होने के लिए प्रोत्साहित करना शुरू किया। इससे स्कूलों में दाखिले बढ़े और धीरे-धीरे अधिकांश बच्चों के नाम स्कूलों में दाखिल हो गए। शिक्षा आवश्यक है, इस समझ के बढ़ते फैलाव के चलते सरकारी स्कूलों में बच्चों की संख्या भी बहुत बढ़ी।

किंतु इन सरकारी स्कूलों की लचर व्यवस्था व नियोजन यथा स्कूलों में बच्चों की अधिक संख्या, शिक्षकों की कमी, शिक्षकों के संयोजन, मानिटरिंग, उनके पेशेवर दायित्वों में असंगतता, उनके कटु कार्य-अनुभवों के चलते सरकारी स्कूलों के प्रति रोष व नैराश्य भी धीरे-धीरे घर करता गया। यह सब उन प्रयासों के बावजूद हुआ जो सरकार के स्कूलों को व शिक्षकों को ज्यादा बेहतर व ज्यादा सक्षम करने के तहत किए। सरकारी स्कूलों में भवन, थोड़े-बहुत संसाधन व कम से कम कुछेक शिक्षक उपलब्ध करवाने, उनको ठीक से प्रशिक्षित करने, उन पर प्रेरणा थोपने का भी पुरजोर प्रयास हुआ। किंतु यह सब सरकारी ढंग से आधे-अधूरे मन से हुआ। पहले से चली आ रही सभी जगह स्कूल खोलने की हड़बड़ी के चलते बिना भवन, बिना संसाधन व बिना शिक्षक के स्कूलों स्थिति कुछ तो बेहतर हुई, किंतु इस प्रयास में जो कुछ भी उपलब्ध करवाने की स्कीम बनी उसने स्कूल की धारणा को और भी हल्का बना दिया। क्योंकि बजट के अभाव में स्कूल में क्या होना चाहिए, स्कूल कैसा होना चाहिए इसकी लंबे समय बाद अब इसकी न्यूनतम सूची बनाई जा रही है। जाहिर है कि न्यूनतम की यह धारणा ही स्कूल के लिए 'प्राप्ति लक्ष्य' बन गई। एक कम संसाधन वाली परिस्थिति से शुरू करके धीरे-धीरे उसे बेहतर करना व उस स्तर तक ले जाना जहाँ से उसे अच्छा स्कूल कहा जा सके, स्कूल का लक्ष्य नहीं रहा। इस सरकारी हस्तक्षेप से स्थानीय नागरिक समूहों की शिक्षा के कार्य में भूमिका भी कम होती गई, और शिक्षा के ढाँचों को अधिकाधिक अफसरीकरण होता गया। इस प्रक्रिया में सरकारी स्कूल के ढाँचे पर कुछ मुख्य असर आए हैं–

1. स्कूलों की संख्या यकायक व लगातार बढ़ने से शिक्षा का ढाँचा व्यवस्थित नहीं रहा तथा उसके दूसरे ये परिणाम भी थे : (क) यह बड़ा ढाँचा स्थानीय लोगों, परिस्थितियों व आकांक्षाओं को शामिल तो नहीं कर सकता था परंतु उन पर चर्चा भी नहीं कर पाता था। (ख) ढाँचे के बड़े होने से वह ज्यादा केंद्रित प्रशासन में देन-लेन, राजनीतिक व बाहुबली प्रभाव के दायरे में आने लगा। (ग) शिक्षकों की संख्या बहुत अधिक बढ़ी व उनका नियोजन व नियुक्ति में धांधली भी हुई

व लकीर की फकीरी भी। इस संख्या के बढ़ने से उनके काम का आकलन, फीडबैक व उनकी सक्षमता पहचान कर बेहतर उपयोग के दायरे खत्म होते गए। (घ) अति-अफसरीकरण के चलते रोशन ख्यालात वाले अफसरों ने भी अपनी समझ में बेहतर विचारों को पढ़ाने के तरीकों आदि को थोपना शुरू किया। उन्होंने अपनी रुचि व दृष्टि के चलते नई-नई प्रक्रियाएँ व प्रशासन के ढाँचे बनाए जिससे वह शैक्षिक व्यवस्था को प्रशासनिक ही नहीं वरन् शैक्षिक ढंग से भी चला सकें। अफसरों की अपने-अपने रोशनख्याली फितूरी विचारों व इधर-उधर से सुनकर लाए गए विचारों व तरीकों के सभी पर थोपे जाने के चलते शिक्षा का ढाँचा व शिक्षक, स्कूल व अन्य सभी प्रक्रियाओं में छोटे-छोटे समय अंतराल में ही अनेक परिवर्तन लागू होते गए। एक विचार ठीक से शिक्षकों तक पहुँचा नहीं कि उस अफसर को हटाकर दूसरा लगा दिया गया। (च) इस केंद्रीकरण के चलते न सिर्फ निर्णय लेने की सारी जिम्मेदारी अफसरों और उनके करीब के कुछ जूनियर अकादमिक अफसरों में केंद्रित हो गई परंतु बाकी सब अफसरों, प्रधान अध्यापकों व शिक्षकों आदि के बारे में एक ऐसी समझ बैठ गई, जो उन्हें सक्षम, नकारा मानती व शक की निगाह से देखती थी। चाहे प्रशिक्षण हो व चाहे बैठक या कुछ और आँकड़े जैसा कोई भी काम, वह अगर केंद्रीय स्तर से निर्देशित है तो करना ही है फिर चाहे स्कूल बंद ही क्यों न करना पड़े।

हालांकि प्रधान अध्यापक व स्कूल की स्वत्रंतता, समुदाय की शाला में सकारात्मक भागीदारी के काफी गाने गाए गए, किंतु इनके क्रियान्वयन के ढंग ऐसे थे जिनमें इस मूल भावना में गहरे अविश्वास की झलक मिलती थी। ऐसा लगता था मानों नियमों व आदेशों की रचना व भाषा में ही इन्हें असफल बनाने का षड्यंत्र निहित था।

स्कूल को ठीक से चलाने व बच्चों को शिक्षा देने का जिम्मा शिक्षकों व प्रधान प्रध्यापक का था किंतु उन्हें करना वही था जो निर्देशों में था। सीखने का स्तर, पढ़ाने का तरीका, उसी कक्षा में रखना या आगे ले जाना, पढ़ाने की गति, जो भी थोड़ी बहुत राशि थी उसे खर्च करने में स्वायत्ता व आकलन कैसे करना कितने बच्चों को प्रवेश देना, आदि कुछ भी उनके हाथ में नहीं था। इस असहायता के चलते वे अपने बच्चों के भविष्य के बारे में व उनकी शिक्षा के बारे में चिंतित पालकों को न तो समझा पाए और न ही स्कूल में उनका आत्मविश्वास जगा पाए। हालांकि शिक्षा के ढाँचे का जोर सभी बच्चों को दाखिल करना था किंतु उनमें विविधता व स्थानीय तनावों को संभालने के लिए आवश्यक समझ व क्षमता नहीं थी। उस पर शब्दों में बराबरी व सभी के महत्त्व व इज्जत की बात करने वाला ढाँचा वास्तव में आर्थिक रूप से कमजोर व सामाजिक व सांस्कृतिक ताकत से वंचित बच्चों को बहुत तिरस्कार व अविश्वास से देखता था।

स्कूल महत्त्वाकांक्षी पालकों को विविधता का महत्त्व व सभी बच्चों को शामिल करने के लाभ को भी नहीं समझा पाया, क्योंकि वह स्वयं इसको नहीं मानता व समझता था। शिक्षक खुद भी अपने बच्चों को उनके साथ नहीं पढ़ाना चाहते थे व अपने करीबियों को भी यही सलाह देते थे। नव उदारवाद व संचार के माध्यमों के चलते जहाँ शिक्षा की आवश्यकता व महत्त्व की समझ का विकास हुआ, वहीं और अधिक हासिल करने की इच्छा का भी। गैर बराबरी के चलते दौड़ में पीछे छूट जाने का डर और ज्यादा गहराने लगा। इसका नतीजा यह हुआ कि बच्चों की शिक्षा में रुचि रखने वाले व स्कूल से सरोकार रखने वाले पालकों ने ऐसे विकल्पों को तलाशना शुरू किया जिनमें उनके बच्चे आगे बढ़ सकें व बाकी बच्चों से अलग दिखें। इसी को भांपकर हर गली कूचे में प्राइवेट स्कूल उभरने लगे जिसमें स्कूल की ड्रेस, टाई और बैल्ट के साथ अंग्रेजी माध्यम का दावा भी था। पढ़े-लिखे बेरोजगारों के समूह के बढ़ने से इन स्कूलों की संख्या भी बढ़ती गई।

प्राइवेट स्कूल एक श्रेणी के नहीं हैं। गुणवत्ता, साइज,

आर्थिक व संगठनात्मक संरचना आदि और यहाँ तक कि प्रायोजनों व सरोकारों के स्तर पर भी इनमें बहुत अंतर हैं। किंतु सामान्य लोगों में यह बात घर कर गई है कि प्राइवेट स्कूल बेहतर हैं। यह बात ध्यान देने कि है इनमें वे प्राइवेट स्कूल अब सामान्यतः शामिल नहीं हैं, जो सरकारी अनुदान से चलती थी। उनसे कम संसाधनों वाले स्कूल भी व उनसे अधिक संसाधनों व व्यवस्थाओं वाली शालाएँ दोनों ही बेहतर मानी जाती हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि सरकारी अनुदान के चलते राजकीय शालाओं जैसा सरकारीपन इनमें भी घुस गया।

प्रदेशों में बढ़ती गैर-बराबरी का सीधा असर स्कूलों में गैर-बराबरी पर भी बढ़ा है। धन केंद्रीकरण के साथ-साथ विभिन्न किस्म के स्कूलों में आर्थिक-सामाजिक स्तर के अनुरूप पढ़ने वालों का विभाजन होता गया है। इस विभाजन में सांस्कृतिक व धार्मिक कारक भी है, किंतु आर्थिक गैर बराबरी ने स्कूलों में जिस तरह का स्तर दर स्तर बटवारा किया है वह संविधान के वायदे के सिलसिले में अति चिंतनीय है। वास्तव में यह स्तरीकरण सिर्फ प्राइवेट शालाओं में नहीं है वरन सरकारी ढाँचे की शालाओं में भी दिखता है। सरकारी अफसरों व कर्मचारियों के लिए ज्यादा बेहतर स्कूल हैं, बचपन में ही मेरिट के नाम पर छोटे सक्षम पालकों के बच्चों के लिए नवोदय विद्यालय हैं, कुछ अधिक संसाधन वाले कस्बों के स्कूल है और कुछ अभाव से ग्रसित गरीब बच्चों के लिए ग्रामीण स्कूल हैं। विडंबना यह है कि जो जितने सक्षम पालक हैं उनके बच्चों को उतनी ही अधिक सब्सिडी शिक्षा में मिल रही है।

पिछले दशक में प्राइवेट बनाम शासकीय स्कूलों की बहस को तेजी से फैलाव हुआ है। निजीकरण के हिमायती लोगों ने बार-बार यह कहा है कि प्राइवेट स्कूल बेहतर हैं, और वह इसलिए भी क्योंकि सरकार के लिए किफायती हैं। प्राइवेट स्कूल में जोश है। पढ़ने वालों को इकट्ठा करने की इच्छा है, अनुशासन व नियममितता है, और बच्चे अधिक सीखते हैं आदि-आदि। वे यह भी कहते हैं कि बाजार में वस्तुओं की तरह स्कूली शिक्षा भी खरीदी जानी चाहिए और उसकी मांग हो। सरकार को अपने स्कूल बेचकर वाउचर बनाने चाहिए और पालक जहाँ चाहें स्कूल चुनकर फीस के खर्चे के बदले वाउचर दे सकें व पढ़ाएं। हालांकि कई अध्ययनों ने दिखाया है कि परिस्थितियों को समान तल पर लाने के बाद सरकारी व प्राइवेट स्कूलों में बच्चों द्वारा तथाकथित महत्त्वपूर्ण चीजें सीखने में कोई अंतर परिलक्षित नहीं होता। इन अध्ययनों को छोड़ यदि वैचारिक स्तर पर सोचें तो यह स्पष्ट ही है कि सरकारी शालाओं में पढ़ने के कई अन्य पहलू हैं जो हमारे प्रयास को संविधान की कल्पना के ज्यादा करीब ला सकते हैं।

पिछले 50 वर्ष से ऊपर के कॉमन स्कूल का विचार ठंडे बस्ते में डाल दिया गया है। 10 साल पहले बिहार राज्य सरकार द्वारा नियुक्त समिति ने तर्कपूर्ण ढंग से इस विचार की वकालत की थी और हमें इसे संविधान की मूल भावना की राह में पहला छोटा कदम मान सकते हैं। किंतु सबके लिए समान मौके रचने का काम बहुत कठिन है, और उससे कठिन है इस होड़ को सीमित कर पाना जो पालकों में घर कर गई है और जिसमें वे अपने बच्चों को धकेले जा रहे हैं। कॉमन स्कूल की बात करते-करते स्कूलों का स्तरीकरण बढ़ा है, और निजीकरण का दबाव भी। यह भी दबाव बढ़ा है कि शिक्षकों को इतना अधिक वेतन देने की आवश्यकता नहीं है। शिक्षक कम वेतन में कमतर सेवा शर्तों पर ज्यादा बेहतर काम करते हैं। वैसे भी उनकी ज्यादा बेहतर तैयारी नहीं हो सकती शिक्षा पर हमारा खर्च नहीं बढ़ सकता, अतः ज्यादा निवेश आई.टी. के संसाधनों के निर्माण पर होना चाहिए। कुछ निजी शालाओं को छोड़कर अधिकांश निजी शालाओं में शिक्षकों पर निवेश को उपयोगी नहीं समझा जाता।

प्राइवेट बनाम सरकारी स्कूलों के बारे में सोचने के लिए

हमारे प्रमुख पहलू व मान्यताओं के बारे में स्पष्ट होने की जरूरत है। ये मान्यताएँ हैं :

1. क्या हम सबके लिए एक जैसी शिक्षा व संविधान की मूल भावना के अनुरूप शिक्षा के मौके उपलब्ध करवाना चाहते हैं। 2. क्या हम चाहते हैं कि हम सबके बीच स्तरीकरण बढ़े अथवा हम चाहते हैं कि हम एक-दूसरे से ज्यादा मिले-जुले व एक-दूसरे को जाने। 3. क्या हम शिक्षा को एक आर्थिक व बिकाऊ उत्पाद के रूप में देखते हैं या उसे कुछ ज्यादा महत्त्वपूर्ण व इससे अलग ही मानते हैं। 4. क्या हम मानते हैं कि बाजार उपभोक्ताओं के लिए सबसे अच्छे उत्पाद की ओर बढ़ता है व अपने लाभ को कम करके भी गुणवत्ता बनाए रखेगा व स्वसुधार से अपने आप को नियंत्रित कर पाएगा। 5. चूँकि शिक्षा पर खर्चे में सबसे अधिक कटौती उसमें लगे मानवीय संसाधनों यथा शिक्षकों पर खर्चों को कम करके होती है तो क्या हम शिक्षा को सीखने वालों के बीच समृद्ध संवाद मानते हैं अथवा ज्ञान का प्रदत्त मान पाते हैं।

यह स्पष्ट है कि प्राइवेट बनाम सरकारी का मसला उपयोगी नहीं है। उपयोगी यह विचार करना है कि शासकीय स्कूलों का नकारात्मक सरकारीकरण कैसे कम किया जाए। उनके शिक्षकों को कैसे ज्यादा से स्वायत्तता दी जाए। सवाल यह है कि क्या हम इतने सारे स्कूलों के स्तरों को कम करके एक ही तरह के कॉमन स्कूल व्यवस्था की ओर बढ़ सकते हैं या नहीं? सवाल यह नहीं है कि हम निजीकरण करके शासकीय खर्चे को कैसे कम करें और इन स्कूलों पर नियंत्रण व शिकंजा कैसे बढ़ाएं? वरन् यह है कि हम शासन का खर्चा शिक्षा पर कैसे बढ़ाए व स्कूलों पर नियंत्रण व शिकंजा ढीला कर, उन्हें अपने ऊपर विश्वास करने व राह खोजने का मौका कैसे दें। इसका एक पहलू यह भी है कि स्कूली शिक्षा के खर्चे को नियोजित कैसे किया जाए व इन स्कूलों के संचालन में अधिक जीवंत ढाँचा कैसे विकसित किया जाए, जिसमें समुदाय, पालकों व शिक्षकों की भूमिका भी बढ़े व पारस्परिक संवाद भी।